International Journal of Research
Special Issue for UGC Approved Journal-Hindi Papers
Available at https://edupediapublications.org/journals
e-ISSN: 2348-6848
p-ISSN: 2348-795X
Volume 05 Issue 02
January 2018

मध्यकालीन नाटकों में नारी की स्थिति एक अध्ययन

सुरेन्द्र सिंह
शोधार्थी, इतिहास विभाग,
महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक
ईमेल : bikanerhistory@gmail.com

सारांश

यदि भारत के प्राचीन इतिहास का अवलोकन करें तो दृष्टिगत होता है कि सामाजिक व्यवस्था में स्त्रीयों का स्थान महत्त्वपूर्ण रहा है। हिन्दु समाज में उनका सम्मान और आदर्श प्राचीन काल से आदर्शात्मक और मर्यादायुक्त था। उनकी स्थिति पुरुषों के समान थी। उन्हें विवाह, शिक्षा, सम्पत्ति में अधिकार प्राप्त थे। परिवार में उनके द्वारा कन्या, पत्नी, वधू और माँ के रूप में किये जाने वाले योगदान का श्रृद्धा, महत्त्व और सम्मान था। किन्तु स्त्रियों की दशा में युग के अनुसार परिवर्तन भी होता रहा है। उसकी स्थिति में वैदिक युग से लेकर पूर्व–मध्यकाल तक अनेक उतार–चढ़ाव आते रहे हैं तथा उनके अधिकारों में इसी प्रकार परिवर्तन भी होते रहे हैं। नारी समाज का अभिन्न अंग है। किस भी समाज की उन्नति उस समय तक पूर्ण नहीं मानी जाती जब तक उसमें स्त्रियों को पूर्ण स्थान ना मिले। नारी की स्थिति सभ्यता का मापदण्ड है। समाज के स्तर पर अनेक भूमिकाओं के साथ ही माता, बहन, पुत्री, प्रेयसी, दोस्त तथा वैश्या तक जाती है। वह किसी न किसी रूप में अवश्य ही चित्रित होती है। वास्तव में गृहस्थाश्रम की सफलता नारी पर आधारित है। प्रस्तुत शोध विषय में नाटकों के आधार पर नारी की स्थिति की इन विभिन्न रूपों को दिखाने का प्रयास किया है।

मुख्य शब्द : *मध्यकाल, नाटक, स्त्री, समाज, आलोच्य, जीवनाधार*

प्रस्तावना

नारी समाज का अभिन्न अंग है। किस भी समाज की उन्नति उस समय तक पूर्ण नहीं मानी जाती जब तक उसमें स्त्रियों को पूर्ण स्थान ना मिले। नारी की

स्थिति सभ्यता का मापदण्ड है। स्त्रियों की स्थिति प्राचीन भारत जैसे उच्च नहीं थी। प्राचीन काल की अपेक्षा मध्ययुग में स्त्रियों की दशा गिरती जा रही थी, तब तो भी उनको आदर पूर्ण स्थान प्राप्त था।[1] आलोच्य नाटकों के अनुसार पत्नी रूप एक आदर्श रूप था। उसके लिए पति ही उसका सर्वस्व और जीवनाधार था। पति उसके लिए देवता था –

भतैव देवतं सीजाम्।[2]

वह पति पर पूर्ण विश्वास करती थी। वह पराये पुरुष का स्पर्श भी नहीं करती थी। पत्नी पति के सुख–दुःख की सहचारी थी। पतिव्रत का पालन करने के लिए आग में जौहर दिखाकर सती हो जाया करती थीं।[3] जैसा कि नलविलास नाटक में नल के दमयन्ती को सती होते दिखाया गया है। यह सती प्रथा की तरफ इशारा करता है कि तात्कालीन समाज में इस प्रथा का प्रचलन था। ऐसा लगता है कि इस प्रथा का प्रचलन राजकुल की स्त्रियों में अधिक था। अलबेरूनी के विवरण से पता चलता है कि यदि मृत्यु के कारण किसी स्त्री का पति न रहे तो वह दूसरे पुरुष से विवाह नहीं कर सकती। उसे केवल दो बातों में से एक चुननी पड़ती थी, या तो वह आजीवन विधवा रहे या अपने पति के साथ सती हो जाए। पिछली घटना को ही अच्छा माना जाता था, क्योंकि विधवा के रूप में वह जब तक रहती उसके साथ बुरा व्यवहार किया जाता था।[4] सामान्य परिवारों में यह प्रथा सम्भवतः कम थी। बहुदा कहें वह जीवन की सभी अवस्थाओं में पति की अनुगागिनी थी।[5] पति भी अपनी भार्या को प्रिय समझते थे। वे भी परायी स्त्री को नहीं देखा करते थे।[6] नाटकों के माध्यम से यह प्रथा दोनों पर लागू होते प्रतीत होती हैं। लेकिन इस अपवाद भी आलोच्य नाट्य साहित्य के अन्तर्गत विक्रांत कौरव तथा लटकमेलक नाटक में देखने को मिलता है। इनमें पति को वैश्याओं के पास जाते हुए दिखाया गया है। परिवार में नारी का कन्या रूप दृष्टिगोचर होता है। माता–पिता को उसके विवाह की चिन्ता रहती थी। वे उसके लिए योग्य वर की तलाश में लगे रहते थे। योग्य वर की प्राप्ति को कन्या का सौभाग्य माना जाता था। जैसे कि विक्रांत कौरव नाटक में नवमालिका सुलोचना को कहती है कि धन्यभाग्य हैं जो तुम्हारे जो तुम्हें

योग्य पति मिला।[7] सल्तनत काल में हिन्दू समाज की कन्याओं के विवाह की आयु 7 या 10 या अधिक से अधिक 12 वर्ष निर्धारित थी। कन्या के रजवला होने की आयु तक या उसके पश्चात होने वाले विवाहों का माता–पिता के लिए पाप माना जाता था। लेकिन नाट्य साहित्य में हमें ऐसा कोई उदाहरण प्राप्त नहीं होता।[8] विवाहानन्तर स्त्री का रूप परिवार में गृहिणी के रूप में पर्रिणत हो जाता था। सास–ससुर तथा ननद की सेवा, पति में तत्परता, उसके मित्रवर्ग प्रति नम्रता कुल बालिकाओं का संग–ग्रहिणी के कर्त्तव्य थे।[9] ये गृहिणीत्व के कर्त्तव्य उसे पितृगृह में ही शिक्षा के रूप में सिखा दिए जाते थे। कन्या को यही शिक्षा प्रदान की जाती थी। पुत्रवती नारी का परिवार में अधिक आदर होता था। इसलिए उसे पितृगह गमन के अवसर पर पुत्रवति होने के आशीर्वाद दिये जाते थे।[10] वर्तमान समय की तरह प्रसव काल में वह अपने पितृगृह जाया करती थी।[11] कुल मर्यादा का पालन, भूरू और पतिदेव व्रत का ग्रहण ही कुलवधुओं का चरित था। वह नहीं चाहती थी कि उसका पति दूसरा विवाह करे।[12] वह ईर्ष्या वश अपने पति की दूसरी पत्नी के साथ कुछ भी करने को तैयार हो जाती थी। विवेकहीनता भी उसको बस में कर लेती थी।[13] जैसे कि ये ययातिचरित में ययाति की दूसरी पत्नी करती है। जिस तरह ययाति के द्वारा दूसरा विवाह करने के पश्चात् उसकी पहली पत्नी दूसरी पत्नी के साथ व्यवहार करती है। लेकिन सभी स्त्रियां ईर्ष्या भाव नहीं रखती थी।

ग्रहिणी, भार्या तथा सौतन के अतिरिक्त नारी का प्रयेसी रूप भी दृष्टिगोचर होता है। वह प्रेमी के लिए सर्वस्व है। उसके बिना उसे सब शून्य ही प्रतीत होता है।[14] वह प्रेमी को आज की तरह प्रेम पत्र भी लिखती थी।[15] दोनों उपवन में मिलकर एक दूसरे की प्रशंसा करते थे। प्रेमी और प्रेयसी को मिलाने का कार्य स्त्री का दूती[16] रूप करता था। अतः आलोच्य नाट्य साहित्य में नारी का यक रूप स्पष्ट ही है। "यत्र नार्यस्तु पूजयन्ते रमन्ते तत्र देवता" के अनुसार समाज में उसका स्थान प्रतिष्ठा पूर्ण था। उनकी शिक्षा का प्रबन्ध भी किया जाता था। उनका बहुत आदर होता था। उनको उच्चतम शिक्षा दी जाती थी।[17] कलाओं की शिक्षा के लिए संगीतशालाएं थीं।[18] लज्जा उसका परम भूषण था और कोमल स्वभाव उसका

e-ISSN: 2348-6848
p-ISSN: 2348-795X
Volume 05 Issue 02
January 2018

भोलापन। भोलापन इतना था कि पति द्वारा धोखा दिये जाने पर उसे मजाक समझती थी।[19] जैसे कि नलविलास नाटक में दम्यन्ति को अपने पति द्वारा धोखा मिलने पर भी यकीन नहीं हुआ और वह उसे मजाक समझ बैठी। स्त्री का शस्त्र का प्रहार वर्जित था।

पृष्टक व्यापार प्रभवति प्ररन्धीषु कतमः ।[20]

वह अपने शारीरिक सौन्दर्य को अनेक प्रकार के प्रसाधनों से बढ़ाती थी। जैसे कि विक्रान्त कौरव नाटक की इन पंतिक्तयों से प्रतीत होता है। तरूण स्त्रियों के स्तन–तट पर उतर चन्दन लग रहा है, मुख में कपूर से युक्त पान का निवास हो रहा है, गले में काली एवं ताजी कस्तूरी लगी हुई है, तेल से चिकने तथा कृष्णागरू से सवासित केशों में मालती के फूल सुशोभित हो रहे हैं और शरीर में सुगन्धित सौभाग्य को प्राप्त कर रही है।[21]

आलोच्य नाट्य साहित्य में नारी सौन्दर्य का प्रचुर मात्रा में वर्णन है। उनकी सुन्दरता मनुष्य के दुःख का कारण भी बन जाती है। वह चकोर लोचन भी है और कलहंसगामिनी भी।[22]

तत्कालीन समाज में नारी का एक अन्य वैश्या रूप भी दृष्टिगोचर होता है। भारत में प्राचीन काल से ही स्त्री का यह रूप किसी न किसी रूप में चला आ रहा है और आज भी विद्यमान है। आलोच्य समय में वैश्याओं का प्रचुर मात्रा में बोलबाला था। अलबेरूनी के विवरण से पता चलता है कि राजा लोग उनको केवल आर्थिक कारणों से अपने नगरों के लिए आकर्षण और अपनी प्रजा के लिए प्रमोद का प्रलोभन बनाते थे। वे इस व्यापार से, अर्थदण्ड और राजस्व दोनों के रूप में आय प्राप्त करते थे। उससे वे इन व्ययों को पूरा करना चाहते थे, जो उनके कोष को सेना पर व्यय करने पड़ते थे।[23] इसके अतिरिक्त उनका एक दूसरा उद्देश्य भी था अर्थात् अपने अविवाहित सैनिकों की कामुकता से अपनी प्रजा की रक्षा करना।[24] यहां तक की राजा लोग जब कभी विवाह आदि मंगल कार्यों पर जाते थे तो वैश्याएं भी उनके साथ होती थीं।[25]

e-ISSN: 2348-6848
p-ISSN: 2348-795X
Volume 05 Issue 02
January 2018

एक उदाहरण देखिए विटमहाश्य वाराणसी के वेशावट में प्रवेश कर इतने तल्लीन हो जाते हैं कि वहां से निकलने का नाम नहीं लेते। वे एक–एक करके अनेक वैश्याओं का अतिथि स्वीकार करते हैं। अन्त मे ंवे अशोक लतिका नामक वैश्या के घर रुक कर स्वयंवर में जानेवाले विविध राजकुमारों की सज्जता का अवलोकन करते हैं।[26] डाकू लोग भी उनके घरों की शरण लेते थे।[27] जैसे कि प्रबुद्धरोहिणे नाटक में रौहिणे डाकू पकड़े जाने के भय से वैश्या के पास शरण लेता है। प्रायः उनको ग्राम के सभी वासियों का ज्ञान होता था।[28] जैसे कि लटकमेलक प्रहसन में दन्तुरा तथा मंदनमंजरी नामक वैश्याओं को ग्राम के सभी व्यक्तियों का ज्ञान था। लोग इनमें इतने आसक्त थे कि समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त मनुष्य भी इनके पास जाने से संकोच नहीं करते थे और वे अपनी पत्नीयों की परवाह भी नहीं करते थे।[29] जैसे कि लटकमेलक प्रहसन में प्रतिष्ठा प्राप्त सभासलि उपाध्याय नामक वैश्या के घर जाता था। वे वंशीकरण मन्त्रों का जाप करती थी और सुरापान भी करती थी।[30] इस काल में तन्त्र विद्या व धर्म में तन्त्र का समा जाना तथा नारी के रूप में वैश्याओं का प्रचलन बढ़ना उस समय की मनोदशा को दर्शाता है। समाज क्षणिक खुशी के लिए अपने तन–मन–धन को इस पर खर्च करने में संकोच नहीं करता। अर्थात् समाज में पुरातन सामाजिक मान्यताएं इस समय तक ढ़ीली पड़ गई थी। उन मान्यताओं का पालन केवल बाहरी दिखावा मात्र रह गया था। तभी तो खुले आम इस संस्था का चलना ही यह स्पष्ट कर देता है। समाज का छूने सम्बन्धित आचरण प्रायः लुप्त से हो रहे थे। ये बात तो अलबेरूनी भी कहता है कि लोग मान्यताओं में तो रूढ़ीवादी हैं, लेकिन दूसरी तरफ वैश्यावृत्ति जिसे उस समय में प्रश्रय मिला हुआ था, लगता है हर गली–कूचों में ये संस्था चल रही है। ये समाज असमंजयस्ता को दर्शाती है। उस समय के समाज में वेश्यावृत्ति का बढ़ना यह भी दर्शाता है कि लोग उस समय की व्यवस्थाओं से परेशान या उलझन में था। लेकिन कोई सुदृढ़ व्यवस्था अभी पनपी नहीं थी। इस समय का समाज भटकाव की स्थिति तथा नई व्यवस्थाओं के पैदा होने का इंतजार में था। समाज बदलाव के लिए छटपटा रहा था। इसलिए एक तरफ रूढ़िवादिता तथा दूसरी तरफ प्रचलित

मान्यताओं एवं परम्पराओं का खुला उल्लंघन हो रहा था। जैसे कि लटकमेलक प्रहसन से प्रतीत होता है। इसमें दिखाया गया है कि लोगों को शिक्षा देने वाला सभासलि ब्राह्मण समाज में प्रचलित मान्यताओं एवं परम्पराओं को जानते हुए भी वैश्या के पास जाता था। वैसे वैश्याओं को अपनी वास्तविक रूप की अपेक्षा वधु बनने में अधिक गौरव की अनुभूति होती थी। तभी तो लटकमेलक प्रहसन में दिगम्बर सूरि की वधु बनने में दस्तुरा नामक वैश्या को भी कोई हिचकिचाहट नहीं होती। यही स्थिति मंदनमंजरी वैश्या की भी सभासलि के साथ रहने में परिलक्षित होती है। इस प्रकार यह प्रहसन तत्कालीन अवस्था को चित्र हमारे सामने प्रस्तुत करता है।[31]

भारतीय साहित्य में तथा समाज में नारी की निन्दा भी कम नहीं है। कौटिल्य तो स्त्रियों को व्यसन की संज्ञा देते हैं। पौराणिक युग से भी स्त्रियों के दोष के दर्शन होते हैं। बौद्ध साहित्य में भी स्त्रियों की निन्दा की गई है। गौत्तम बुद्ध ने कहा है – 'नारियों के धर्म में प्रवेश करने के कारण ही यह धर्म 500 वर्ष तक चलेगा नहीं तो इसकी अवधि हजारों वर्ष तक होती।'[32] जैन संस्कृतियों में भी स्त्रियों की निन्दा की गई है। बहुत क्या कहें – नारी की निन्दा शास्त्रों में, काव्यों में, प्रचुर मात्रा में की गई है। संभवतः इसलिए पुरुष द्वारा रचित कृति में नारी की आलोचना इसलिए की जाती है कि पुरुष की कमजोरी नारी है। इसी कारण वह उससे दूर भागर ही मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है या कोई भी कार्य पूर्णता से करने में सक्षम हो पाता है। लेकिन इसके विपरीत नर–नारी एक–दूसरे के पूरक हैं। यदि ये दोनों मोक्ष के लिए प्रयास या कोई भी कार्य करना चाहे तो कर सकते हैं। फिर भी इनकी निंदा की जाती है और की जाती रहेगी।

तत्कालीन समाज में भी यहां पर वह गृहिणी, सहधर्मचारिणी चकोरलोचन, कलहंसगामिनी, पतिव्रता और लज्जाशील है। वहीं पर मायामयी, सर्पिणी, पापिनी, अतिकातर आदि से भी संबोधित की जाती है।[33] उस पर अकारण शंका की जाती थी। निवारण होने पर भी छुटकारा नहीं मिलता है।[34] शास्त्रों के अनुसार स्त्रियों को सामाजिक और आध्यात्मिक दृष्टि से पुरुषों से हीन समझा जाता था।[35] यहां तक

e-ISSN: 2348-6848
p-ISSN: 2348-795X
Volume 05 Issue 02
January 2018

की कुछ लोग उनके जन्म को भी अभिशाप मानने लगे थे और कई जगह कन्याओं को जन्म लेते ही मार दिया जाता था।[36] नारी परिवाद से डरती थी।[37] उसे झगड़े का करण समझा जाता था।[38] उसका बन्धन भी होता था। डाकू उनका हरण कर अपनी रखैल बना लेते थे।[39] जैसे कि प्रबुद्धरोहिणेय नाटक में रौहिणेय डाकू मदनवती का अपहरण कर उसे रखैल बना लेता है। इसके अतिरिक्त दासी के रूप में भी उसका क्रय–विक्रय होता था।[40] नारी ने ही नारी के मन में पुरुष के प्रति शंकाएं कर दी, जिससे की वे मानवों को कुटिल कठोर हृदय युक्त और अस्थिर स्नेह कहने पर बाध्य हुई।[41]

निष्कर्ष

अन्त में नाट्य साहित्य के आधार पर कहा जा सकता है कि समाज में नारी को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। प्रस्तुत शोध–पत्र में नारी के विभिन्न रूपों के विभिन्न रूपों का विस्तृत वर्णन किया गया है। मध्यकालीन नाटकों में नारी पत्रों के आदर्श रूप की सराहना की है तो वहीं नारी का वैश्या रूप की निन्दा भी की गयी है। फिर भी देखा जाए तो तात्कालीक नाटकों के आधार पर समाज में नारी की स्थिति समान्यतः अच्छी थी।

संदर्भ ग्रन्थ

1 ए.बी. पाण्डे, *पूर्व मध्यकालीन भारत*, सेन्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद, 1980, पृ. 396

2 सोमेश्वर कृत *उल्लाघराघव*, ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, 1961, पृ. 54

3 रामभद्र मुनि कृत, *नलविलास*, सम्पादक जी.के. श्रीगोदकर, सेन्ट्रल लाईबेरी, बड़ौदा, 1926, पृ. 56, 81

4 अल्बरूनी वर्णित भारत, भाग–1

5 उल्लाघराघव, पृ. 9

6 जयदेव कृत *प्रसन्नराघव*, हिन्दी व्याख्या रमाकान्त त्रिपाठी, चौखम्भा अमर भारती प्रकाशन वाराणसी, 1977, पृ. 111, 113

7 हस्तिमल्ल कृत *विक्रांत कौरव*, सं. पन्नालाल जैन, चौधम्भा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, 1960, पृ. 65, 66

8 ए.एल. श्रीवास्तव, *मध्यकालीन भारतीय संस्कृति*, आगरा, 1965, पृ. 20

e-ISSN: 2348-6848
p-ISSN: 2348-795X
Volume 05 Issue 02
January 2018

[9] उल्लाघराघव, पृ. 8

[10] वही, पृ. 152–53

[11] हस्तिमल्ल कृत *अंजनापवन*, सं. वासुदेव मानिकचन्द दिगम्बर, ग्रंथमाला समीति, हीरा बाग, बम्बई, 1950, पृ. 77

[12] सुभट कृत *दूतागंद*, सं. अन्नतराम शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस, विद्याविलास प्रैस, बनारस, 1956, पृ. 21

[13] रूद्रवेद कृत *ययातिचरित*, सं. सी.आर. देवधर, पूना, 1965, पृ. 78

[14] हस्तिमल्लकृत *सुभद्रा*, सं. वासुदेव, मणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रंथ माला समिति, हीरा बाग, बम्बई, 1950, पृ. 55

[15] वही, पृ. 52

[16] रामचन्दे सूरी कृत *नलविलास*, सं. जी.के. श्री गोदकर, सेन्ट्रल लाईब्रेरी, लाल चन्द्र बी. गांधी, बड़ौदा, 1926, पृ. 22

[17] परामत्माशरण, *मध्यकालीन भारत*, नन्द किशोर ब्रदर्स, बनारस, 1950, पृ. 38

[18] अंजनापवन, पृ. 8

[19] नलविलास, पृ. 70

[20] वत्सराज कृत *किरातार्जुनीय व्यायोग*, सं. रविन्द्रन त्रिपाठी, चौखम्भा, ओरियन्टलिया, वाराणसी, 1977, पृ. 17

[21] विक्रांत कौरव, पृ. 194–95

[22] अंजनापवन, पृ. 7

[23] अल्बेरूनी वर्णित भारत, भाग–1, पृ. 149

[24] वही, पृ. 149

[25] विक्रांतकौरव, पृ. 10

[26] वही, पृ. 80

[27] वही, पृ. 15 प्रस्तावना

[28] रामभद्र मुनि कृत *प्रबुद्धरौहिणे*, सं. राधावल्लभ त्रिपाठी, सागर विश्वविद्यालय, सागर, पृ. 42,

[29] वही, पृ. 11

[30] शंखघट कृत *लटकमेलक*, हिन्दी व्याख्या कपिल देव गिरी चौखम्बा, विद्याभवन, वाराणसी, 1962, पृ. 9

[31] लटकमेलक, भूमिका, पृ. 10

[32] राम जी उपाध्याय, *भारतस्य सांस्कृतिक नीधि*, संस्कृत परिषद् विश्वविद्यालय, सागर, 1971, पृ. 131

[33] उल्लाघराघव, पृ. 47, ययातिचरित, पृ. 45

[34] अंजनापवन, पृ. 53

[35] ए.एल. श्रीवास्तव, *मध्यकालीन भारतीय संस्कृति*, पृ. 20

[36] एस.सी. राय चौधरी, *सोशल कल्चरल एण्ड कक्नोमक हिस्ट्री ऑफ इण्डिया*, सुरजीत पब्लिकेशन, कोलाह पुर रोड़, दिल्ली–7, 1978, पृ. 68,

[37] अंजनापवन, पृ. 56

[38] विक्रांतकौरव, पृ. 143, 126

e-ISSN: 2348-6848
p-ISSN: 2348-795X
Volume 05 Issue 02
January 2018

[39] प्रबुद्धरौहिणेय, पृ. 11

[40] रामचद्र कृत *सत्यहरिश्चन्द्र*, सम्पादक रामचन्द्र, शंकर विष्णु, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1909, पृ. 30

[41] रूद्रदेव कृत *ययाति चरित*, सम्पादक सी.आर. देवधर, भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्टीस्ट्यूट, पूना, 1965, पृ. 57; अंजनापवन, पृ. 88